संस्कृति-रक्षक संघ साहित्य रत्नमाला का ५५ वाँ रत्न

आत्म-शुद्धि का मूल

तत्त्व त्रयी

रतनलाल डोशी

प्रकाशक—

अखिल भारतीय साधुमार्गी
जैन संस्कृति-रक्षक संघ
सैलाना (म. प्र.)

द्रव्य-सहायक

श्री पारसमल मिलापचन्द महेन्द्रकुमार जम्बूकुमार सज्जनकुमार बोहरा सेवा ट्रस्ट मंड्या द्वारा अर्द्ध मूल्य योजना के अंतर्गत

प्राप्ति स्थान--

१ श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति-रक्षक संघ
सैलाना मध्य- प्रदेश

२- " एडुन बिल्डिंग, पहली धोबी-तलाव लेन
बम्बई ४०000२

३- " सिटी पुलिस, जोधपुर (राजस्थान)

४- " नं. पुलियनथोप, हाइरोड, मद्रास-१२

५- " हस्तीमलजी किशनलालजी जैन
६७ बालाजीपेठ, जलगांव-१

मूल्य-१0-00

द्वितीयावृत्ति
२०००

वीर संवत् २५१७
विक्रम संवत् २०४७
नवम्बर सन् १९९० ७

मुद्रक-श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस सैलाना (मध्यप्रदेश)

निवेदन

प्रत्येक जिनोपासक को धर्म का सामान्य ज्ञान तो होना ही चाहिये। इसके अभाव में वह अजैन के समान रहता है। परन्तु देखा गया है कि अधिकांश जैनी अपने धर्म के प्राथमिक सामान्य ज्ञान से भी वञ्चित हैं। वे मात्र कुलधर्मी रह गये हैं। जिस प्रदेश में त्यागी संतों और सतियों का विचरना होता है और उनके सत्संग एवं उपदेश श्रवण का लाभ मिलता है, वहाँ के उपासकों में तो धर्म के प्रति अपनत्व की कुछ भावना रहती है, किन्तु जिस प्रदेश में त्यागी वर्ग का विचरना नहीं होता, उस प्रदेश के जैन लोग अधिकांश धर्म से वंचित रहते हैं, और कुछ तो अन्य संसर्ग से धर्म छोड़ कर अन्य बन जाते हैं। यह स्थिति चिन्ताजनक थी। इस हानि से बचने के लिए सर्व प्रथम उपाय स्व. पू. प्रवर्त्तक श्री पन्नालालजी म. के सान्निध्य में हुआ और गुलाबपुरा में स्वाध्यायी संघ की स्थापना हुई। वहां के स्वाध्यायी उपासक, पर्वाधिराज पर्युपण पर व्याख्यान देने बाहर जाने लगे। इसके बाद यह प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इस संघ ने भी ९-१०-५७ को साँचोर में हुई कार्यकारिणी सभा में प्रस्ताव नं. ३ पास करके व्याख्याता भेजने का निर्णय किया था और प्रथम वर्ष में कुछ भेजे भी थे। परन्तु बाद में साधनों के अभाव में निष्क्रियता रही। पूज्यश्री हस्तीमलजी म. सा. के प्रयत्न से जोधपुर में भी स्वाध्यायी संघ स्थापित हुआ और वह भी इस प्रवृत्ति को आगे बढ़ाते हुए प्रगति कर रहा है। गत वर्ष "सुधर्मप्रचार मण्डल" जोधपुर में स्थापित हुआ और इसने भी तत्परता से कार्य करना प्रारम्भ किया।

स्वाध्यायी जाते हैं, पर्युषण में 'अंतगड सूत्र' और ढाल-चौपाई, कथा तथा भजन आदि सुनाते और धर्मसाधना करवा कर धर्मभावना का पोषण करते हैं। परन्तु स्वाध्यायी स्वयं प्रशिक्षित हों, तत्त्वज्ञ हों और सूत्रव्याख्यान के साथ धर्म का मौलिक परिचय करावें तो वास्तविक लाभ हो सकता है। इसके लिये स्वाध्यायी व्याख्याता का प्रशिक्षित होना भी नितांत आवश्यक है। तत्त्वज्ञान के अभाव में कुछ अन्यथा कहा जाना असम्भव नहीं है। किन्ही व्याख्यानदाता ने कहीं कुछ अन्यथा भी कहा, जिसकी बातें मेरे सुनने में भी आई थी।

व्याख्याताओं को शिक्षित करने के लिए शिविर भी लग रहे हैं। उन्हें शिक्षण दिया जाता है, सर्वप्रथम उन्हें मौलिक शिक्षण देना चाहिये, जिससे वे अपने श्रोताओं के हृदय में जैनधर्म की मौलिकता, अद्वितीयता, सर्वोपरिता एवं विशुद्धता जमा कर सच्चे जैन बनाने का प्रयत्न कर सकें। इस प्रकार के साहित्य की ही उन्हें आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति संघ द्वारा प्रकाशित 'शिविर-व्याख्यान' पुस्तक करती थी, परन्तु वह अप्राप्य है। अब उसके स्थान पर यह पुस्तक करेगी। इसमें कुछ विशेष विषय भी रखे हैं। जैसे 'जैनधर्म का आस्तिक-वाद' 'जैन-दर्शन और विज्ञान' 'कार्यसाधक कारण परि-सम्वाद' आदि।

यह पुस्तक व्याख्याताओं के लिए ही नहीं, तत्त्वज्ञान-रसिक सभी बन्धुओं और बहिनों के लिए अवश्य ही उपयोगी होगी।

सैलाना १३-२-७७ —रतनलाल डोशी

विषयानुक्रमणिका~

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक

इस आवृत्ति के विषय में

बढती हुई मांग को देखते हुए आत्मशुद्धि का मूल तत्त्वत्रयी की इस द्वितीयावृत्ति का प्रकाशन करते हुए अत्यंत प्रसन्नता है। जैन धर्म का सामान्य स्वरूप समझने के लिये यह पुस्तक काफी उपयोगी सिद्ध हुई है। आशा है धर्मानुरागी श्रावक-श्राविकाएँ इस चिरप्रतीक्षित द्वितीयावृत्ति से लाभान्वित होंगे।

इस प्रकाशन में मे. अचलचन्दजी फौजमलजी छाजेड़ सांचोर निवासी ने ५०० पुस्तकें एवं श्रीमान् सेठ मिलापचन्दजी सा. बोहरा मंड्या निवासी ने १००० पुस्तकेंअग्रिम क्रय कर सहयोग प्रदान किया, अतएव आभारी हैं।

सैलाना, दि. २१-१०-९० **—पारसमल चण्डालिया**

आत्म-शुद्धि का मूल

तत्त्व-त्रयी

परम आराध्य अरिहंत देव

हमारी आत्मा का प्रत्येक प्रदेश जड़ से आवद्ध-प्रतिवद्ध है। प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर कर्म-कीट के अनन्त पटल लगे हैं और उस कर्म-कालिमा से आत्मा कलुपित वनी हुई है। जवतक कर्म-कालिमा वनी रहेगी, तवतक जन्म-मरण, रोग-शोक और संयोग-वियोगादि दुःख भी वने रहेंगे। अनादि काल से ऐसा ही चलता रहा है। आत्म-शुद्धि ही इस दुर्दशा से वचने का उपाय है। आत्म-वद्ध कर्म-कीट को हटा कर आत्मा को शुद्ध वनाने से ही दुःख-परम्परा नष्ट हो सकती है। परन्तु ये वातें वताई किसने? आत्मा है, आत्मा कर्म-मल से मलिन है और कर्म-मल हटने से विशुद्ध परमात्मा वन सकती है—ऐसा वताया किसने? आत्म-शुद्धि के उपाय का ज्ञान कराने वाला कौन महापुरुष है? ये हैं—अरिहंत देव। अरिहंत देव ही

धर्म-प्रकाशक हैं और तत्त्वत्रयी के मूल प्रथम तत्त्व हैं।

'जैन-दर्शन संसार में नौ तत्त्व मानता है, फिर यह तत्त्वत्रयी आई कहां से ? नौ तत्त्व ही मानना चाहिए। देव-गुरु और धर्म को मानने की आवश्यकता ही क्या है ?'—ऐसा नहीं सोचना चाहिए। नौ तत्त्वों के उद्घाटक हैं—तत्त्व-त्रयी के प्रथम तत्त्व—अरिहंत देव। वस्तुतः सभी तत्त्वों का मूल देवतत्त्व ही है। देव-तत्त्व से ही सभी तत्त्वों का प्रकाश हुआ है।

किसने वताये जीव-अजीव ? कई मत न तो जीव-तत्त्व मानते हैं, न अजीव तत्त्व के धर्मास्ति अधर्मास्ति आदि मानते हैं। बन्ध का स्वरूप पुण्य-पाप आदि तत्त्वों का स्वतन्त्र एवं विशुद्ध स्वरूप वताने वाले हैं कौन ? कहना होगा कि एकमात्र परम वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवंत ही ऐसे हुए हैं, जो समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करते हैं। तत्त्वों का तथ्यात्मक स्वरूव वे ही वता सकते हैं, जिनके राग-द्वेष समूल नष्ट होगए हों और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वन गए हों। ऐसे परम श्रेष्ठ विश्वोत्तम परमात्मा ही तत्त्वों का प्रकाश कर सकते हैं। उनके प्रति श्रद्धा हो, तभी उनके उप-दिष्ट तत्त्वों पर श्रद्धा हो सकती है। यदि तत्त्वोपदेशक पर विश्वास नहीं, तो तत्त्व का मूल्य ही क्या रहे ?

कोई सोना चांदी एवं रत्नादि बहुमूल्य वस्तु खरीदना चाहे, तो विश्वसनीय जौहरी के पास जाता है। वह दूसरों से पूछता है कि—"ऐसा विश्वसनीय जौहरी कौन है कि जिससे

ली हुई वस्तु खरी ही होती है ? उसके यहाँ खोटाई बिलकुल नहीं होती और लोग पूर्ण विश्वास के साथ उसका माल लेते हों—भले ही पैसा अधिक लगे ?"

पुरुष की प्रामाणिकता से पेढ़ी की प्रामाणिकता बढ़ती है और उस प्रामाणिक पेढ़ी का माल खरा, श्रेष्ठ एवं विशुद्ध माना जाता है। इसी प्रकार देवतत्त्व का महत्त्व सर्वाधिक है। जिसका देवतत्त्व विशुद्ध, उसका प्रवचन भी विशुद्ध और उसके द्वारा प्रसारित उपदेश भी विशुद्ध होता है।

हमारा देव-तत्त्व अद्वितीय है, सर्वश्रेष्ठ है, परमोत्तम है, परम विशुद्ध है और अनन्त गुण सम्पन्न है। उसमें किसी भी प्रकार का दोष नहीं है। संसारी जीवों में अज्ञान, मोह, विषय-वासना, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दुर्गुण होते हैं। इन सभी दोषों से जिनेश्वर भगवन्त मुक्त होते हैं। दोष तो अगणित होते हैं, परन्तु मुख्य दोष अठारह बताये हैं। यथा—

१ **अज्ञान**—अज्ञान दो प्रकार का होता है–१ असम्यक्—तथ्य से विपरीत और २ अल्प ज्ञान। जिनेश्वर भगवन्त में दोनों प्रकार के अज्ञान का अभाव होता है। जिस आत्मा की ज्ञान-पर्यायें ज्ञानावरण-कर्मरूपी कीट से आच्छादित हो, अवरुद्ध हो, वह पूर्ण ज्ञानी नहीं हो सकता। पूर्ण ज्ञान के अभाव में उसकी जानकारी दोषपूर्ण होती है। वह अन्यथा भी बोल जाता है। सम्यक् ज्ञानी छद्मस्थ में क्षायोपशमिक ज्ञान होता है, उससे भी भूल होने की संभावना रहती है, तब

जिसमें सम्यग्ज्ञान ही नहीं, उसका तो कहना ही क्या है ? अन्य मत के उपास्य देवों में सम्यग्ज्ञान होता ही नहीं। अतएव उनका कथन सत्य नहीं हो सकता। तात्त्विक विषयों में तो वे अज्ञानी होते ही हैं। जहाँ अज्ञान का दोष है, वहाँ अन्य दोषों का सद्भाव भी होता ही है।

जिनेश्वर भगवन्त ने अपनी पवित्र साधना से, आत्मा के पूर्ण ज्ञान को अवरुद्ध करने वाले समस्त आवरणों को नष्ट करके सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता प्राप्त कर ली। उनसे संसार की कोई भी वस्तु छिपी नहीं रही—चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म, वर्तमान की हो या भूत-भविष्य काल की। वस्तु का अत्यन्त गुप्त सूक्ष्मतम अंश भी भगवान् से छुपा नहीं रहा। इसका प्रमाण हमारे सामने है।

जिनेश्वर भगवन्त ने वाणी से बोले जाने वाले शब्द को रूपी एवं ग्रहण होने योग्य बतलाया है। शब्द को वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शयुक्त होने तथा वज्राकार आकृति होना, सिवाय जिनेश्वर भगवन्तों के और किसने बताई ? एकमात्र जिनेश्वर भगवन्त ही ऐसे हैं जिन्होंने भाषा को पुद्गलमय वर्णगन्धादि युक्त और निकलते ही लोकान्त तक पहुँचने वाली बतलाया है। भाषा के पुद्गल अनन्त-प्रदेशी (अनन्त परमाणुओं से युक्त) और असंख्य समय की स्थिति वाले बतलाये हैं। यह भी बताया है कि भाषा के पुद्गल मुँह से निकलने के बाद बढ़ते-बढ़ते अनन्त गुण वृद्धि पाते हुए लोकान्त तक पहुँचते हैं।

(प्रज्ञापना सूत्र पद ११)

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र के पांचवें वक्षस्कार में द्रव्य-जिनेश्वर के जन्म समय सौधर्मेन्द्र द्वारा किये गये जन्मोत्सव का वर्णन है। उसमें लिखा है कि शक्रेन्द्र की आज्ञा से हरिणैगमेषी देव, सुघोषा घंटा द्वारा सौधर्म स्वर्ग के बत्तीस लाख विमानवासी असंख्य देव-देवियों को इन्द्र का सन्देश देता है—उद्घोषणा करता है। इस घंटा का नाद बत्तीस लाख विमानों में रही पृथक्-पृथक् घंटाओं द्वारा असंख्य देव-देवियों को सुनाई देता है। इससे मिलता हुआ वर्णन 'रायपसेणी' सूत्र में भी है।

इन्द्र की सुधर्मा-सभा की सुघोषा घंटा को 'ब्राडकास्टिंग स्टेशन' के समान समझ लें और लाखों विमानों में रही हुई घंटाओं को रेडियो के समान समझ लें। अब प्रश्न यह होता है कि जिनेश्वर भगवन्त ने यह जाना कैसे? उनके पास कोई अन्वेषण-परीक्षणशाला तो थी ही नहीं। समस्त भौतिक साधनों के त्यागी जिनवरेन्द्र ने अपने केवलज्ञान केवलदर्शन से शब्द को वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं आकृति सम्पन्न जाना, तथा बोलने वाले स्थान से निकलकर शब्द बढ़ता और व्यापक होता हुआ लोकान्त तक जाने वाला बतलाया। यह उनके अनन्त ज्ञान-गुण का स्पष्ट दर्शन करवाता है। पृथिव्यादि पांच स्थावरकाय के सूक्ष्म और बादर जीव, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आदि ऐसे, द्रव्यों का स्वरूप बताया है जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

इस प्रकार जिनेश्वर भगवन्त, निर्मल अनन्त परिपूर्ण

ज्ञान-गुण सम्पन्न हैं। उनमें अज्ञान का रंच मात्र भी दोष नहीं होता। जो पूर्ण ज्ञानी होता है, वही सच्चा तत्त्व-प्रकाशक हो सकता है। अन्य तत्त्वनिरूपकों के कथन में असत्य का अंश होना सर्वथा सम्भव है। अतएव आराध्य देव वही हो सकता है कि जिसमें अज्ञान-दोष का लेशमात्र भी नहीं हो। जिनेश्वर भगवन्त पूर्ण ज्ञानी थे। उनमें अज्ञान-दोप था ही नहीं। वे सर्वथा निर्दोष थे।

२ मिथ्यात्व दोष--ज्ञान के अभाव में मिथ्यात्व तो होता ही है। जहाँ तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान नहीं, वहाँ सम्यग्दर्शन भी नहीं होता। मिथ्यात्व ही के प्रभाव से जीव पाप को पुण्य और पुण्य को पाप, अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म मानता है। स्थावरकाय जीवों को अजीव और अजीव को जीव, आस्रव को संवर और संवर को आस्रव, वन्ध को निर्जरा और निर्जरा को वन्ध तथा मुक्ति को संसार और संसार को मुक्ति मानता है। निर्दोष संयम-तप की साधना को 'जड़क्रिया' और साधक को 'क्रियाजड़' कहता है। मिथ्यात्व ऐसा विष है, जिससे आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि गुण विकृत हो जाते हैं। जिस प्रकार कांस्य-पात्र में रखा हुआ दही विषैला हो जाता है, ताम्र-पात्र में रहा हुआ दूध-दही और घृत स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है, इसी प्रकार जहाँ मिथ्यात्व है, वहाँ सामान्य ज्ञान भी नहीं रहता, तव धर्म-प्रकाशक देवत्व तो रहे ही कैसे? अन्य देवों में मिथ्यात्व का सद्भाव बताने

वाले विचार उनके साहित्य में मौजूद है। इसलिए उन्हें देव नहीं माना जा सकता। जिनेश्वर भगवन्त में मिथ्यात्व दोष लेश-मात्र भी नहीं था। पूर्वभवों से ही वे मिथ्यात्व से मुक्त हो चुके थे।

३ अविरति दोष—हिंसादि पाप एवं विषय-विकार पर अंकुश नहीं रख कर असंयमी रहना, एक साधक के लिये भी शोभनीय नहीं होता, तो परम आराध्य देव के लिए कैसे उपयुक्त हो सकता है? अन्य देव अविरत होते हैं। उन्हें जीवों के स्वरूप का भी ज्ञान नहीं होता। कई तो युद्ध करते-करवाते हैं, असत्य और अदत्त ग्रहण से भी वे निवृत्त नहीं होते हैं। कई स्त्री-भोगी और रागरंग में मस्त रहते हैं। कोई अहिंसक कहलाते हैं, किन्तु स्थावरकाय जीवों की घात तो उनके जीवन में बनी ही रही। उनके और उनके शिष्य-परिवार के लिए भक्त के यहाँ भोजन बनता और उसमें पशु-वध कर के मांस पका कर खिलाया जाता। इस प्रकार अन्य देवों में अविरति का दोष स्पष्ट पाया जाता है। एक जिनेश्वर भगवंत ही ऐसे हैं जो इस दोष से पूर्णतया मुक्त हैं—साधना काल से ही।

४ काम दोष—जिनेश्वर भगवंत के समान काम-विजेता अन्य कौन हो सकता है? गृहत्याग के बाद साधना-काल में भी वे पूर्ण निष्काम रहते हैं। देवांगनाएँ भी उन्हें अपनी साधना से नहीं डिगा सकी। पूर्ण वीतराग हो जाने के

पूर्व ही उस पवित्र आत्मा में से काम-विकार का बीजांश—वेदोदय—समाप्त हो जाता है। अतएव भगवान् में काम दोष भी नहीं होता। वे पूर्णतया निष्काम होते हैं।

५ हास्य दोष--जिनेश्वर भगवंत में हास्य दोष नहीं होता। मनुष्य हँसता है—मोहनीय और ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से। कोई ऐसी बात देखने-सुनने या जानने में आवे जो तत्काल हंसी उत्पन्न कर दे। जिसे सुन कर उदास मनुष्य के मन में भी हँसी उत्पन्न हो जाय। यह बात या तो पहले उसके जानने में नहीं आई हो। यदि पहले सुनी देखी हो, तो भी विस्मरण हो गया हो और हंसी उभाड़ने के कलापूर्ण ढंग से प्रस्तुत हुई हो, तो हंसी आना स्वाभाविक है। मोहनीय-कर्म की अठाईस प्रकृतियों में से हास्य भी एक प्रकृति है। परम वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी को हँसी आती ही नहीं। वे भूत और भविष्य के सम्पूर्ण ज्ञाता होते हैं। उनसे कोई भी रहस्य छिपा नहीं है। अतएव उनको हँसी आने का कोई कारण भी नहीं है। जो हँसता है, वह मोही है और छद्मस्थ है। जिनेतर देवों में यह दोष उनके चरित्र से स्पष्ट होता है। किन्तु जिनेश्वर भगवंत इस दोष से सर्वथा मुक्त हैं।

६ रति दोष--मनानुकूल विषयों के प्राप्त होने पर प्रसन्न होना, सुखानुभव करना, इच्छित वस्तु की प्राप्ति पर तुष्ट होना। भक्तों द्वारा प्राप्त पूजा-सत्कार से संतुष्ठ होना। शब्दादि भौतिक सुखद विषयों में आसक्ति-अनुरक्ति

मोहोदय के कारण होती है। जिनेश्वर भगवंत इस दोष से सर्वथा मुक्त होते हैं।

७ अरति दोष--प्रतिकूल विषय प्राप्त होने पर अप्रसन्न होना। रति-दोष से यह उलटा है। अनिच्छनीय-अप्रीतिकर शब्द-रूपादि प्राप्त होने पर अप्रिय लगना, खेद का अनुभव होना। यह भी मोहोदय से होता है। जिनेश्वर भगवन्त इस दोष से भी सर्वथा रहित होते हैं।

८ शोक दोष--प्रिय वस्तु के वियोग और अप्रिय के संयोग से होने वाला रंज, शोक, खेद। शोक से रुदन एवं अश्रुपात भी होता है। यह भी मोहनीय के उदय का परिणाम है। अन्य देवों में यह दोष रहा है। कोई प्रिया--वियोग से शोकातुर हुआ, तो कोई माता आदि के वियोग से। जिनेश्वर भगवंत में यह दोष भी नहीं होता।

९ भय दोष--किसी निमित्त से डरना भय-दोष है। भय सात प्रकार के हैं;—

इहलोक भय—अपनी ही जाति से डरना। मनुष्य का मनुष्य से चोर, डाकू, और शत्रु से भयभीत होना। १।

परलोक भय—मनुष्य का तिर्यंच, देव और नारक से डरना। परलोक में होने वाले दुःख से डरना। २।

आदान भय—धन सम्पत्ति आदि का चोर-डाकू और राज्य आदि से विनष्ट होने का भय। ३।

अकस्मात् भय—अचानक किसी प्रकार का भय उत्पन्न

होना अथवा अकारण ही भयप्रद विचार उत्पन्न होना ।४।

आजीविका भय—जीविका के साधन विनष्ट होने का भय । अथवा वेदना भय—रोग से उत्पन्न दुःख । इनके प्रतिकार के लिए इन्जेक्शन आपरेशन आदि से भयभीत होना ।५।

अयश भय—अपयश, बदनामी, प्रतिष्ठा में होने वाली हानि का भय ।६।

मृत्यु भय—मरने का डर ।७।

भयभीत होने वाली आत्मा अशक्त होती है । उसके मन में धन, कुटुम्ब, शरीर आदि के प्रति मोह होता है । इसीसे उनकी अरक्षा का डर बना रहता है । अन्य देवों के हाथों में शस्त्र होने का कारण भय ही है । श्रीजिनेश्वर भगवंत सभी प्रकार के भय से रहित—निर्भय होते हैं ।

१० जुगुप्सा दोष—बीभत्स्य दृश्यों, विष्ठादि दुर्गन्धी वस्तुओं, कर्णकटु शब्दों, स्वादहीन अथवा अप्रिय स्वाद वाले खान-पान, असह्य स्पर्शादि से घृणा होना । अन्य देव इस दोष से मुक्त नहीं थे । जिनेश्वर भगवंत में यह दोष भी नहीं होता ।

११ राग दोष—प्रिय वस्तु पर राग—स्नेह होना । भक्तों पर अनुराग कर के उन्हें वरदान देना, उनका इच्छित कार्य करना आदि राग-दोष है । माया और लोभ कषाय, राग के अन्तर्गत है । जिनेश्वर भगवंत इस राग—स्नेह—प्रेम दोष से सर्वथा वंचित हैं ।

१२ द्वेष दोष—अप्रिय पर द्वेष होना। राग के विपरीत द्वेष, क्रोध और मान कषाय से उत्पन्न होता है। जिसके मन में अप्रीति हो, किसी के प्रति रोष एवं मात्सर्य भाव हो, वह द्वेष का पात्र है। यह द्वेष-दोष भी जिनेश्वर भगवंत में नहीं होता।

१३ निद्रा दोष—नींद में तो व्यक्ति अनजान बेभान-सा रहता है। उसे ज्ञात ही नहीं होता कि कौन आया, कौन गया, क्या हो रहा है। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से होने वाली निद्रा तो साधारण मनुष्यों जैसी स्थिति बतलाती है। अप्रमत्त श्रमण में भी निद्रा नहीं होती, तब जिनेश्वर भगवंत में कैसे हो सकती है? भगवान् इस दोष से सर्वथा रहित होते हैं।

१४ दानान्तराय दोष—दान देने की शक्ति को रोकने वाला कर्म-मल। इस मल के क्षयोपशम से आत्मा में दान देने की शक्ति विकसित होती है। यदि यह मल पूर्णरूप से नष्ट हो जाय तो दान की उत्तमोत्तम अनन्त शक्ति पूर्ण रूप से प्रकट हो जाती है। जिनेश्वर भगवंत को यह शक्ति पूर्णरूप से प्राप्त थी। दानान्तराय का पात्र कंगाल, आर्थिक अभाव-ग्रसित व्यक्ति तो होता ही है, जिसके पास दान में दी जाने वाली वस्तु का अभाव है। किन्तु वे साधन-सम्पन्न व्यक्ति भी इस बाधा से युक्त होते हैं—जिनके पास दान देने की वस्तु है, योग्य याचक भी है और कुशलतापूर्वक याचना भी

कर रहा है, दाता दान करना चाहता भी है, और दान के सुफल से परिचित भी है, परन्तु मन में किसी प्रकार की हिचकिचाहट उत्पन्न होने से या किसी के कुछ अड़ंगा लगा देने पर दान नहीं दिया जा सकता। यह दानान्तराय कर्म के उदय का परिणाम है।

अन्य मान्यताओं में ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सृष्टि की रचना करने वाला—उत्पादक, समस्त जीवों का पालकपोषक माना जाता है, किन्तु उसके उत्पन्न किये हुए लाखों करोड़ों मनुष्य अभावों से पीड़ित रहते हैं। उनके भक्त भी अर्थाभाव से दुःखी देखे जाते हैं, परन्तु वे उन्हें इच्छित वस्तु का दान दे कर सुखी नहीं करते। इससे दानान्तराय के दोष से दूषित पाये जाते हैं।

प्रश्न—क्या जिनेश्वर भगवन्त किसी को धन—धान्य ऋद्धि-सिद्धि और कुटुम्ब-परिवार आदि इच्छित वस्तु का दान करते हैं ? उनमें दानान्तराय का दोष नहीं होता। इसलिये वे तो भरपूर दान देते होंगे।

उत्तर—जब वे गृहस्थ अवस्था में भौतिक-साधनों से युक्त रहते हैं, तब भौतिक वस्तु—स्वर्ण का इतना दान करते हैं कि जितना अन्य कोई नहीं कर सकता। वे एक वर्ष पर्यन्त प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान कर के सारे आर्थिक अभाव को समाप्त कर देते हैं। गृहत्याग करने के पश्चात् वे सर्वथा अकिंचन रहते हैं। दान की भौतिक सामग्री

तो क्या, एक तिनका भी वे अपने पास नहीं रखते । इसलिये भौतिक वस्तु के दान का तो प्रश्न ही नहीं उठता । दूसरी बात यह है कि भौतिक वस्तुएं नाशवान् हैं । वे नष्ट हो सकती है और उनका वियोग भी हो सकता है। जिसे पा कर व्यक्ति प्रसन्न होता है उसके वियोग से दुःखी हो कर रोना भी पड़ता है। इसलिए ऐसी वस्तुओं का तो वे स्वयं भी त्याग कर चुके हैं । जिस महान् परमोत्कृष्ट शाश्वत सुख को वे प्राप्त करने वाले हैं, उसी परमोत्कृष्ट धर्म का महादान वे करते ही हैं ।

प्रश्न—तीर्थंकर भगवान् धनधान्यादि का दान नहीं कर सके, तो उन पर दानान्तराय-कर्म का उदय होना क्यों नहीं माना जाय ?

उत्तर—कर्म के उदय की बाधकता के कुछ कारण हैं–१ योग्यता और साधन का सर्वथा अभाव—असंज्ञी जीव और नारक तथा तिर्यंचवत् २ साधन और योग्यता होते हुए भी विपरीत मान्यता से देने की भावना नहीं होना और ३ योग्यता, साधन, पात्र, श्रद्धा और भावना होते हुए भी कोई ऐसी बाधा उत्पन्न हो जाय कि जिससे भावना सफल नहीं हो सके । इनमें से एक भी कारण नहीं होने से जिनेश्वर भगवन्तों में दानान्तराय का उदय नहीं माना जा सकता । वे समस्त अन्तराय-कर्म नष्ट कर के ही तीर्थंकर हुए हैं ।

जिनेश्वर भगवन्तों का बोधिदान, अभयदान, श्रुतदान,

कर मनुष्य दूसरे शक्तिशाली से डरता है और उससे सुरक्षित रहने के लिए विविध प्रकार के शस्त्र धारण करता है। उनके शत्रु भी होते हैं, जिन्हें वे मारते हैं। यह स्थिति भौतिक-लगाव के कारण होती है। पुद्गलानन्दीपन के कारण ऐसी स्थिति बनती है और यह दशा जिनेतर देवों के चरित्रों में स्पष्ट दिखाई देती है।

वीर्य—शक्ति तीन प्रकार की है—१ बाल-वीर्य २ पंडित वीर्य और ३ बाल-पंडित-वीर्य।

वीर्यान्तराय का अर्थ है—शक्ति का अवरोध। अन्तराय के क्षयोपशम से शक्ति का कुछ विकास होता है और क्षय से होता है—परिपूर्ण विकास।

बालवीर्य का अर्थ है—आरंभ-परिग्रह विषयविकार और कषाय पर कुछ भी आत्म-नियन्त्रण नहीं रखने वाला अविरत जीव। प्रथम गुणस्थान से लगा कर चतुर्थ गुणस्थान तक के सभी अविरत जीव "बालजीव" हैं।

पण्डित वीर्य—आरम्भ-परिग्रह, विषय-विकार और अठारह पाप के त्यागी सर्वविरत साधु-साध्वी। गुणस्थान ६ से १४ पर्यन्त चारित्र-सम्पन्न।

बाल-पण्डित वीर्य—आरम्भ परिग्रहादि के अंश रूप से त्यागी। प्रथम गुणस्थानी देश-विरत श्रावक।

उपरोक्त तीनों भेद विरति की अपेक्षा से हैं, शारीरिक अथवा आर्थिक सम्पन्नता की अपेक्षा से नहीं। भौतिक अपेक्षा तो कई बालवीर्य वाले भी शेष दो से बढ़-चढ़ कर होते हैं।

जो जीव सम्यक्त्व पूर्वक आंशिक रूप से भी विरत नहीं है, वह 'बाल' है—फिर भले ही वह प्रथम गुणस्थानी हो या चतुर्थ गुणस्थानी। पंचम गुणस्थानी बालपण्डित है और सामायिक-चारित्र से लगा कर यथाख्यात-चारित्र तक के सभी महात्मा 'पण्डित' हैं।

जिनेश्वर भगवंत में शारीरिक और आत्मिक वीर्यशक्ति पूर्ण रूप से विकसित होती है।

इस प्रकार परम आराध्य देव-तत्त्व में जिन दोषों का अभाव होना चाहिये और जिन आत्मिक गुणों का पूर्णरूप से विकास होना चाहिये, वह जिनेश्वर भगवंत में होता है।

उपरोक्त अठारह दोषों का चार घनघाती-कर्म में समावेश हो जाता है। यथा—ज्ञानावरणीय-कर्म, प्रथम दोष से सम्बन्धित है, १३ वाँ निद्रा दोष दर्शनावरणीय-कर्म का है, १४ से १८ तक के पाँच अन्तराय-कर्म के फलस्वरूप है और शेष २ से लगाकर १२ तक के ग्यारह दोष मोहनीय-कर्म का परिवार है। इनमें से दूसरा दर्शन-मोहनीय का है और १० चारित्र-मोहनीय के हैं। चार घाती-कर्म नष्ट होने से सभी दोष नष्ट हो जाते हैं। सब से पहले नष्ट होता है—दर्शन-मोहनीय—दृष्टि विकार। इसके बाद चारित्र-मोहनीय के दोष क्रमशः नष्ट होते हैं। शेष तीन घातीकर्म एक साथ नष्ट होते हैं।

जिनेश्वर भगवन्त सर्वज्ञ-सर्वदर्शी परम वीतरागी होते

हैं। संसार की समस्त वस्तुएँ—अणु से लगा कर विशालतम तक और उनके अनादि अनन्त भूत-भविष्य की सूक्ष्मतम अवस्था के भी ज्ञाता-दृष्टा होते हैं। उनसे कोई भी बात गुप्त नहीं रह सकती। केवलज्ञान ऐसा सम्पूर्ण ज्ञान है कि उसमें संसार की सभी वस्तुएँ और प्रत्येक वस्तु की तीनों काल की समस्त पर्यायें प्रत्यक्ष हो जाती है। जिस प्रकार एक आरसी (दर्पण—काँच) का गोला किसी मध्यस्थ भाग में अधर रखा हो, तो उसमें चारों ओर की सभी वस्तुओं का प्रतिबिंब पड़ता है। इसी प्रकार केवलज्ञान में भी समस्त वस्तुएँ प्रत्यक्ष होती है। दर्पण का उदाहरण तो आंशिक है। केवलज्ञान के लिए कोई उदाहरण ही नहीं, जो पूरा उतर सके। उत्तराध्ययन सूत्र अ. २३ में केवलज्ञान को सूर्य की उपमा दी है। यथा—

"**उग्गओ विमलो भाणू, सव्वलोयप्पभंकरो**" (गाथा ७६) तथा—"**सव्वण्णू जिणभक्खरो**" (गा. ७८)

किन्तु सूर्य की उपमा भी एकदेशीय है। यद्यपि सूर्य अपने प्रभावक्षेत्र को प्रकाशित करता है, परन्तु उसका प्रकाश भी आवरण से रुकता है और वस्तु की ऊपरी सतह को ही प्रकाशित करता है। सूर्य के प्रकाश से अस्पर्शित भाग बहुत बड़ा है और सूर्य तो अस्त भी होता है, बादल उसे ढक देते हैं और ग्रहण लग कर बदरंग कर देता है। किन्तु केवलज्ञान से अप्रकाशित कोई वस्तु और उसकी कोई भी पर्याय नहीं रहती। केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद सदा स्थायी—अपर्यवसित रहता

है। इसे किसी भी प्रकार का आवरण नहीं लग सकता। केवलज्ञान अपना उदाहरण आप ही है।

केवलज्ञानी भगवन्तों की ज्ञान-शक्ति को नापने की शक्ति, हमारे जैसे मलिनमति वालों में नहीं है। जिस प्रकार सिद्ध भगवन्तों के स्वरूप एवं सुख को समझने में तर्क की कसौटी अनुपयुक्त है। कहा है कि—"**सव्वे सरा जियट्टंति, तक्का जत्थ ण विज्जइ, मई तत्थ ण गाहिया**"।

—जहाँ सभी शब्द असमर्थ हो जाते हैं, वहाँ तर्क नहीं चलता और मति की गति भी वहाँ कुण्ठित हो जाती है। (आचारांग सूत्र १–५–६)।

यही स्थिति केवलज्ञान के विषय में भी है।

जिनेश्वर भगवन्तों का चरित्र पूर्णरूप से निर्दोष और परमोत्तम होता है। पाँच प्रकार के चारित्र में यथाख्यात चारित्र सब से उत्तम और उत्कृष्ट होता है। इस चारित्र से बढ़ कर अन्य कोई चारित्र नहीं हो सकता। उनका उपदेश निर्दोष एवं गुणवर्द्धक होता है। वे ऐसी कोई बात नहीं कहते, जिससे किसी प्रकार का दोष उत्पन्न हो।

अरिहंत भगवान् की परम वीतरागता का परिचय उसके प्रथम गणधर (जो पचास हजार साधु-साध्वी में अग्रस्थान रखते थे) के चारित्र से ज्ञात होती है। गणधर भगवान् की श्रमण भगवान् महावीर प्रभु पर अनन्य भक्ति थी। पूर्वभवों का स्नेह-संबंध भी था ही। वे अधिकांश समय भगवान् के निकट ही रहते

थे। उनका चारित्र उत्तम था और वे निरन्तर वेले-बेले की तपस्या करते रहते थे। उनकी छोटी-सी भूल के लिए उन्हें आनन्द नामक श्रावक के पास (जो श्री गौतमस्वामी को गुरु स्थानीय वन्दनीय एवं पूज्य मानता था) अपनी भूल सुधारने और क्षमा-याचना करने भेजा। भगवान् के मन में अपने प्रधान शिष्य एवं प्रथम गणधर के प्रति रागभाव होता, तो वेले के तप के पारणे के लिये लाये हुए आहार को यों ही धरा रहने दे कर आनन्द श्रावक को खमाने नहीं भेजते। कम से कम यह तो कहते ही कि—"अरे गौतम ! तू बेले का पारणा पहले कर ले, फिर खमाने जाना," अथवा "यहीं से खमा ले।"

गौशालक ने भगवान् महावीर प्रभु के दो शिष्यों को जला कर भस्म कर दिया और भगवान् पर भी तेजोलेश्या छोड़ी थी। प्रभु को छह मास तक व्याधि रही, परन्तु भगवान् के मन में गोशालक पर तनिक भी रोष नहीं आया। भगवान् के श्री गौतमस्वामी आदि अनेक ऐसे शक्तिशाली शिष्य थे जो गोशालक को क्षणमात्र में राख का ढेर बना सकते थे। परन्तु भगवान् की शिक्षा के अनुसार सभी शान्त एवं समभावयुक्त रहे। ये उदाहरण उनकी परम वीतरागता के प्रबल प्रमाण है।

संसार में अनादि-काल से जन्म-मरण, रोग-शोक, वियोगादि दुःख सहते और रखड़ते-भटकते हुए जीव को शाश्वत अनन्त सुखों का मार्ग बताने वाला यदि संसार में कोई है, तो

एक मात्र अरिहंत देव ही। इसी लिए सौधर्मेन्द्र ने भगवान् की स्तुति करते हुए उन्हें—"**अभयदयाणं, चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं, सरणदयाणं**.......विशेषण दिये हैं।

जिनेश्वर भगवंत जीवों को मुक्ति का मार्ग बताते हुए कहते हैं—"**संबुज्झह किं ण बुज्झह ?**"—मुमुक्षुओं ! समझो। अनादिकाल मे भयानक एवं असह्य दुःखों को सहते हुए भी तुम शाश्वत सुख के उपाय को क्यों नहीं समझते ?

जैन-दर्शन 'परमात्मा' या 'ईश्वर' नाम की किसी एक सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार नहीं करता, जैसा कि अन्य भारतीय-अभारतीय आस्तिक-दर्शन मानते हैं। जैनदर्शन परमात्म-दशा अवश्य मानता है, जिसे अनन्त जीवों ने प्राप्त कर ली और भविष्य में भी अनन्त आत्माएँ परमात्मा बनेगी। जो भी आत्माएँ परमात्मा हुई और होगी, वे सब अपनी साधना से ही होगी। जिनेश्वर भगवंत भी अपनी साधना के बल पर ही अरिहंत होकर हमारे परम तारक बने हैं। वे आत्मा को परमात्मा बनने की साधना बताते हैं, परन्तु किसी को अपने बल से आशीर्वाद देकर परमात्मा नहीं बनाते, जैसा कि अन्य देवों के विषय में कहा जाता है कि वे अनुग्रह कर के किसी को मुक्त कर सकते हैं। वस्तुतः यह कथन असत्य है। भगवान् शाश्वत सुख का मार्ग 'बताने' वाले हैं, 'बनाने' वाले नहीं। यदि किसी के अनुग्रह से जीवों की मुक्ति हो सकती होती, तो संसार में जन्म-मरणादि होता ही नहीं। सभी मुक्त हो जाते।

ऐसे अरिहंत भगवान् प्रथम तत्त्व के रूप में हमारे लिए परम आराध्य हैं। इन्हीं से धर्म की उत्पत्ति होती है। इन्हीं के बताये मार्ग पर साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ चल कर अपना आत्म-कल्याण करते हैं। इन्हीं के उपदेश का संकलन कर के गणधर भगवंत आगमों की रचना करते हैं और आचार्य उपाध्याय एवं साधु-साध्वी इन्हीं आगमों के अनुसार हमें उपदेश देते हैं।

ऐसे परम आराध्य अरिहंत भगवंतों के चरणों में हमारी वारवार वन्दना है।

हम कितने भाग्यशाली हैं कि एक दरिद्र को अनमोल रत्न मिलने के समान हमें अनायास ही जिनेश्वर देव का परम पावन धर्म-रत्न मिला है। हमारा जन्म जैनकुल में हुआ और अरिहंत भगवंत जैसे सर्व श्रेष्ठ देव-तत्त्व की आराधना का उत्तम अवसर मिला है। इस उत्तम अवसर को भौतिक चका-चोंध और कुर्तकियों के मायाजाल में उलझ कर खो नहीं देना चाहिये। जिस प्रकार रत्नादि सम्पत्ति को लूटने वाले चोर लुटेरे वहुत होते हैं, उसी प्रकार धर्म-धन को लूट कर हमें जिनधर्म से वंचित करने वाले, भौतिकवाद में उलझे हुए मिथ्यादृष्टि कई हैं। उनसे सावधान रहना चाहिए।

गुरु तत्त्व

देव-तत्त्व धर्मरूपी कल्पवृक्ष का मूल है और गुरु तत्त्व उसकी शाखा-प्रशाखा है। भरत-क्षेत्र में इस काल में देव-तत्त्व

विद्यमान नहीं है, किन्तु गुरु-तत्त्व विद्यमान है, जो देव की आज्ञानुसार धर्म का पालन करते हुए और भव्य जीवों को उस धर्म का परिचय कराते हुए धर्माभिमुख करते हैं। वे संसार में जिनधर्म का प्रवर्तन करते हैं और भव्य जीवों का उपकार करते हैं।

नमस्कार महामन्त्र के पाँच पदों में प्रथम के दो पद देव-तत्त्व के हैं और शेष तीन तत्त्व गुरु पद के हैं, जिनमें आचार्य उपाध्याय और साधु-साध्वी हैं। ये तीनों पद जिनेश्वर देव की आज्ञा के आराधक हैं। आचार्य भगवन्त जिन-शासन के नायक होते हैं। चतुर्विध संघ के धर्म-शासक एवं जिनेश्वर के प्रमुख-प्रतिनिधि हैं। स्वयं ज्ञानादि पांच आचार का पालन करते हैं और दूसरों से करवाते हैं। आचार्य भगवन्त मोक्ष-मार्ग पर गति करने वाले सार्थ के महासार्थवाह होते हैं। जिनेश्वर भगवंत के धर्म-साम्राज्य के शासक, आचार्य भगवंत होते हैं। धर्म शासन की सुदृढ़ता का उत्तरदायित्व आचार्य महाराज पर है। वे अपने अधिनस्थ साधु-साध्वियों की शुद्धता सारणा (ज्ञानाचारादि की सुरक्षा एवं वृद्धि करने) वारणा (ज्ञानाचारादि में त्रुटि होती हो, कोई मर्यादा का उल्लंघन कर रहा हो, तो उसे रोकने) और धारणा (सद्गुणों को धारण करवाने) में तत्पर एवं आचार श्रुत आदि गुणों की आत्मनिधि से परिपूर्ण होते हैं। ऐसे आचार्य भगवंत, गुरु के प्रथम पद में सुशोभित होते हैं। जिस पद को गौतमादि गणधर भगवंतों ने सुशोभित किया, जो पद तीर्थंकर भगवंतों से उत्तराधिकार में परम्परा

से प्राप्त हुआ है। उस पद पर रहे हुए धर्माचार्य, गुरुपद पर सुशोभित हैं।

आचार्य भगवंत के बाद उपाध्याय भगवंत महामन्त्र के चौथे पद पर आसीन है। वे श्रुतज्ञान के आकर, बहुश्रुत एवं गीतार्थ होते हैं। साधु-साध्वियों को श्रुतज्ञान का अभ्यास करवाना उनका मुख्य कार्य है। ये महात्मा भी हमारे गुरुपद पर हैं।

महामन्त्र के पाँचवें पद के स्वामी सर्वत्यागी श्रमण-निर्ग्रंथ भी गुरु-पद के धारक हैं।

पाँच महाव्रत और पच्चीस भावनाओं से युक्त, रात्रि-भोजन का सर्वथा त्याग, पाँच समिति, तीन गुप्ति के पालक, नववाड़-युक्त ब्रह्मचर्य के धारक और सत्तरह प्रकार के संयम का पालन करने वाले होते हैं। संयम के सत्तरह प्रकार ये हैं;—

१—९ पृथिवीकायादि पाँच स्थावर, बेइंद्रियादि चार त्रस, ये ९ जीवकाय की यतना करना, इन्हें किसी प्रकार का क्लेश एवं खेद नहीं पहुँचाना।

१० अजीवकाय संयम—वस्त्रादि उपकरण बहुमूल्य नहीं लेना, आवश्यक उपधि से विशेष नहीं रखना, वस्त्रादि पर मूर्च्छा नहीं रखना।

११ प्रेक्षा संयम—चलते-फिरते, सोते-बैठते, वस्त्रादि उठाते-रखते सावधानी पूर्वक देखना।

१२ उपेक्षा संयम—असंयम के कार्यों में उपेक्षा करना,

मिथ्यादृष्टि, पासत्था, कुशीलिया, स्वच्छन्दाचारी आदि की उपेक्षा करना, उनसे परिचय नहीं बढाना।

१३ परिस्थापनिका संयम—मल-मूत्रादि परठने योग्य वस्तु को निर्दोष स्थान पर यतनापूर्वक परठना।

१४ प्रमार्जन संयम—स्थान वस्त्र-पात्रादि की यतना पूर्वक प्रमार्जन करना।

१५ मनः संयम—मन में विषय-कषायादि पापपूर्ण विचार नहीं लाकर धर्म-भावना युक्त रहना।

१६ वचन-संयम—हिंसादि पापकारी, मर्मकारी, आघात जनक, अपमान कारक यावत् सदोष वचन नहीं बोलकर, आवश्यकता होने पर निरवद्य वचन बोलना।

१७ काय-संयम—सोते-बैठते, चलते-फिरते और किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति विवेकपूर्वक यतना सहित निर्दोष रीति से करना।

उपरोक्त सत्तरह प्रकार से संयम पालने वाले अनगार भगवन्त, सत्ताईस गुणों से युक्त होते हैं। वे २० गुण ये हैं;—

१-५ पांच महाव्रतों का पालन, ६-१० पाँच इन्द्रियों का निग्रह, ११-१४ चार कषाय का विवेक, १५ करण-सत्य, १६ योग-सत्य, १७ भाव-सत्य १८ क्षमा, १९ वैराग्य, २० मन-समाधारण, २१ वचन-समाधारण, २२ काय-समाधारण, २३ ज्ञान सम्पन्नता, २४ दर्शन-सम्पन्नता, २५ चारित्र सम्पन्नता, २६ वेदना सहन और २७ मृत्यु सहन। ये सत्ताईस गुण

अनगार भगवन्तों के हैं।

हिंसादि पांच आस्रव, रात्रि-भोजन, पृथिव्यादि छः काय की हिंसा, आहार उपधि और शय्यादि अकल्पनीय, गृहस्थ के कांस्यादि पात्र में आहार करना, कुर्सी आदि आसन पर बैठना और पलंग आदि पर सोना, स्नान करना और शरीरादि की शोभा बढ़ाना—ये अठारह स्थान श्रमण-निर्ग्रन्थ के लिए सदैव त्याज्य हैं।

निर्ग्रन्थ गुरु "अनगार" कहलाते हैं। अनगार का अर्थ है—गृहत्यागी। जिसने गृहस्थ सम्बन्धी सभी व्यवहारों एवं सम्बन्धों का त्याग कर दिया हो। जिनके रहने का संसार में अपना घर नहीं हो। जो गृहस्थों के अपने लिये बनाये हों, ऐसे निर्दोष स्थान में ठहरते हैं। वे न तो स्वयं घर बनाते हैं, न दूसरों को घर बनाने की प्रेरणा देते हैं और न घर बनाने का अनुमोदन करते हैं, भले ही वह घर, जाति समाज या धर्मस्थान के लिये बनाया जाता हो—बनाया गया हो।

निर्ग्रन्थ-श्रमण "भिक्षु" कहलाते हैं। निर्दोष भिक्षाचरी से ही वे आहार-पानी, वस्त्र-आश्रय आदि प्राप्त करते हैं। वे स्वयं आहारादि नहीं बनाते, पचन-पाचन नहीं करते, न दूसरों से करवाते हैं, पचन-पाचनादि क्रिया का वे अनुमोदन भी नहीं करते, इतना ही नहीं, वे पचन पाचनादि क्रिया को पाप मानते हैं। गृहस्थ अपने और परिवार के लिये आहारादि बनाते ही हैं, उसमें से थोड़ा-थोड़ा, (इतना कि जिससे उन्हें फिर से नहीं बनाने पड़े) लेते हैं। यदि कोई गृहस्थ गांव में सन्त